रश्मिरथी

दिनकर

सप्तम सर्ग

(शृंखला - भाग 1)

रथ सजा, भेरियाँ घमक उठीं, गहगहा उठा अम्बर विशाल ,
कूदा स्यन्दन पर गरज कर्ण ज्यों उठे गरज क्रोधान्ध काल ।
बज उठे रोर कर पटह-कम्बु, उल्लसित वीर कर उठे हूह ,
उच्छल सागर-सा चला कर्ण को लिये क्षुब्ध सैनिक समूह ।

अङ्गार-वृष्टि पा धधक उठ जिस तरह शुष्क कानन का तृण ,
सकता न रोक शस्त्री की गति पुञ्जित जैसे नवनीत मसृण ।
यम के समक्ष जिस तरह नहीं चल पाता बद्ध मनुज का वश ,
हो गयी पाण्डवों की सेना त्योंही बाणों से विद्ध, विवश ।

भागने लगे नरवीर छोड़ वह दिशा जिधर भी झुका कर्ण ,
भागे जिस तरह लवा का दल सामने देख रोषण सुपर्ण !
'रण में क्यों आये आज ?' लोग मन-ही-मन में पछताते थे ,
दूर से देखकर भी उसको, भय से सहमे सब जाते थे ।

काटता हुआ रण-विपिन क्षुब्ध, राधेय गरजता था क्षण-क्षण ।
सुन-सुन निनाद की धमक शत्रु का, व्यूह लरज़ता था क्षण-क्षण ।
अरि की सेना को विकल देख, बढ़ चला और कुछ समुत्साह ;
कुछ और समुद्वेलित होकर, उमड़ा भुज का सागर अथाह ।

गरजा अशङ्क हो कर्ण, "शल्य ! देखो कि आज क्या करता हूँ ,
कौन्तेय-कृष्ण, दोनों को ही, जीवित किस तरह पकड़ता हूँ ।
बस, आज शाम तक यहीं सुयोधन का जय-तिलक सजा करके ,
लौटेंगे हम, दुन्दुभि अवश्य जय की, रण-बीच बजा करके ।

इतने में कुटिल नियति-प्रेरित पड़ गये सामने धर्मराज ,
टूटा कृतान्त-सा कर्ण, कोक पर पड़े टूट जिस तरह बाज़ ।
लेकिन, दोनों का विषम युद्ध, क्षण भर भी नहीं ठहर पाया ,
सह सकी न गहरी चोट, युधिष्ठर की मुनि-कल्प, मृदुल काया ।

भागे वे रण को छोड़, कर्ण ने झपट दौड़कर गहा ग्रीव ,
कौतुक से बोला, "महाराज ! तुम तो निकले कोमल अतीव ।
हाँ, भीरु नहीं, कोमल कहकर ही, जान बचाये देता हूँ ।

आगे की खातिर एक युक्ति भी सरल बताये देता हूँ ।

"हैं विप्र आप, सेविये धर्म, तरु-तले कहीं, निर्जन वन में ,
क्या काम साधुओं का, कहिये, इस महाघोर, घातक रण में ?
मत कभी क्षात्रता के धोखे, रण का प्रदाह झेला करिये,
जाइये, नहीं फिर कभी गरुड़ की झपटों से खेला करिये ।"

भाग विपन्न हो समर छोड़ ग्लानि में निमज्जित धर्मराज ,
सोचते, 'कहेगा क्या मन में जानें, यह शूरों का समाज ?
प्राण ही हरण करके रहने क्यों नहीं हमारा मान दिया ?
आमरण ग्लानि सहने को ही पापी ने जीवन-दान दिया ।'

समझे न हाय, कौन्तेय ! कर्ण ने छोड़ दिये, किसलिए प्राण ,
गरदन पर आकर लौट गयी सहसा, क्यों विजयी की कृपाण ?
लेकिन, अदृश्य ने लिखा, कर्ण ने वचन धर्म का पाल किया,
खड्ग का छीन कर ग्रास, उसे माँ के अञ्चल में डाल दिया ।

कितना पवित्र यह शील ! कर्ण जब तक भी रहा खड़ा रण में ,
चेतनामयी माँ की प्रतिमा घूमती रही तब तक मन में ।
सहदेव, युधिष्ठर, नकुल, भीम को बार-बार बस में लाकर,
कर दिया मुक्त हँस कर उसने भीतर से कुछ इङ्गित पाकर ।

देखता रहा सब श्लय, किन्तु, जब इसी तरह भागे पवितन ,
बोला होकर वह चकित, कर्ण की ओर देख, यह परुष वचन ,
"रे सूतपुत्र ! किसलिए विकट यह कालपृष्ठ धनु धरता है ?
मारना नहीं है तो फिर क्यों, वीरों को घेर पकड़ता है ?"

"संग्राम विजय तू इसी तरह सन्ध्या तक आज करेगा क्या ?
मारेगा अरियों को कि उन्हें दे जीवन स्वयं मरेगा क्या ?
रण का विचित्र यह खेल, मुझे तो समझ नहीं कुछ पड़ता है ,
कायर ! अवश्य कर याद पार्थ की, तू मन ही मन डरता है ।"

हँसकर बोला राधेय, "शल्य, पार्थ की भीति उसको होगी ,
क्षयमान्, क्षनिक, भंगुर शरीर पर मृषा प्रीति जिसको होगी ।
इस चार दिनों के जीवन को, मैं तो कुछ नहीं समझता हूँ ,
करता हूँ वही, सदा जिसको भीतर से सही समझता हूँ ।

"पर ग्रास छीन अतिशय बुभुक्षु, अपने इन बाणों के मुख से ,
होकर प्रसन्न हँस देता हूँ, चाञ्चल किस अन्तर के सुख से ;
यह कथा नहीं अन्त:पुर की, बाहर मुख से कहने की है ,
यह व्यथा धर्म के वर-समान, सुख-सहित, मौन सहने की है ।

"सब आँख मूँद कर लड़ते हैं, जय इसी लोक में पाने को ,
पर, कर्ण जूझता है कोई, ऊँचा सद्धर्म निभाने को ,
सबके समेत पङ्किल सर में, मेरे भी चरण पड़ेंगे क्या ?
ये लोभ मृत्तिकामय जग के, आत्मा का तेज हरेंगे क्या ?

(शृंखला - भाग 2)

"यह देह टूटने वाली है, इस मिट्टी का कब तक प्रमाण ?
मृत्तिका छोड़ ऊपर नभ में भी तो ले जाना है विमान ।
कुछ जुटा रहा सामान खमण्डल में सोपान बनाने को ,
ये चार फुल फेंके मैंने, ऊपर की राह सजाने को ।"

"ये चार फुल हैं मोल किन्हीं कातर नयनों के पानी के ,
ये चार फुल प्रच्छन्न दान हैं किसी महाबल दानी के ।
ये चार फुल, मेरा अदृष्ट था हुआ कभी जिनका कामी,
ये चार फुल पाकर प्रसन्न हँसते होंगे अन्तर्यामी ।"

"समझोगे नहीं शल्य इसको, यह करतब नादानों का हैं ,
ये खेल जीत से बड़े किसी मक़सद के दीवानों का हैं ।
जानते स्वाद इसका वे ही, जो सुरा स्वप्न की पीते हैं ,
दुनिया में रहकर भी दुनिया से अलग खड़े जो जीते हैं ।"

समझा न, सत्य ही, शल्य इसे, बोला—"प्रलाप यह बन्द करो ,
हिम्मत हो तो लो करो समर,बल हो, तो अपना धनुष धरो ।
लो, वह देखो, वानरी ध्वजा दूर से दिखायी पड़ती है ,
पार्थ के महारथ की घर्घर आवाज़ सुनायी पड़ती है ।"

"क्या वेगवान हैं अश्व ! देख विधुत् शरमायी जाती है ,
आगे सेना छँट रही, घटा पीछे से छायी जाती है ।
राधेय ! काल यह पहुँच गया, शायक सन्धानित तूर्ण करो ,
थे विकल सदा जिसके हित, वह लालसा समर की पूर्ण करो ।"

पार्थ को देख उच्छल - उमंग - पूरित उर - पारावार हुआ ,
दम्भोलि-नाद कर कर्ण कुपित अन्तक-सा भीमाकार हुआ ।
बोला "विधि ने जिस हेतु पार्थ ! हम दोनों का निर्माण किया ,
जिस लिए प्रकृति के अनल-तत्त्व का हम दोनों ने पान किया ।

"जिस दिन के लिए किये आये, हम दोनों वीर अथक साधन ,
आ गया भाग्य से आज जन्म-जन्मों का निर्धारित वह क्षण ।
आओ, हम दोनों विशिख-वह्नि-पूजित हो जयजयकार करें ,
ममच्छेदन से एक दूसरे का जी-भर सत्कार करें ।"

"पर, सावधान, इस मिलन-बिन्दु से अलग नहीं होना होगा ,
हम दोनों में से किसी एक को आज यहीं सोना होगा ।
हो गया बड़ा अतिकाल, आज निर्णय अन्तिम कर लेना है ,
शत्रु का या कि अपना मस्तक, काट कर यहीं धर देना है ।"

कर्ण का देख यह दर्प पार्थ का, दहक उठा रविकान्त-हृदय ,
बोला, "रे सारथि-पुत्र ! किया तू ने, सत्य ही योग्य निश्चय ।
पर कौन रहेगा यहाँ ? बात यह अभी बताये देता हूँ ,
धड़ पर से तेरा सीस मूढ़ ! ले, अभी हटाये देता हूँ ।"

यह कह अर्जुन ने तान कान तक, धनुष-बाण सन्धान किया ,
अपने जानते विपक्षी को हत ही उसने अनुमान किया ।
पर, कर्ण झेल वह महा विशिक्ष, कर उठा काल-सा अट्टहास ,
रण के सारे स्वर डूब गये, छा गया निनद से दिशाकाश ।

बोला, "शाबाश, वीर अर्जुन ! यह खूब गहन सत्कार रहा ;
पर, बुरा न मानो, अगर आन कर मुझ पर वह बेकार रहा ।
मत कवच और कुण्डल विहीन, इस तन को मृदुल कमल समझो ,
साधना-दीप्त वक्षस्थल को, अब भी दुर्भेद्य अचल समझो ।"

"अब लो मेरा उपहार, यही यमलोक तुम्हें पहुँचायेगा ,
जीवन का सारा स्वाद तुम्हें बस, इसी बार मिल जायेगा ।"
कह इस प्रकार राधेय अधर को दबा, रौद्रता में भरके ,
हुङ्कार उठा घातिका शक्ति विकराल शरासन पर धरके ।"

सँभलें जब तक भगवान्, नचायें इधर-उधर किञ्चित स्यन्दन ,
तब तक रथ में ही, विकल, विद्ध, मूर्च्छित हो गिरा पृथानन्दन ।
कर्ण का देख यह समर-शौर्य सङ्गर में हाहाकार हुआ ,
सब लगे पूछने, "अरे, पार्थ का क्या सचमुच संहार हुआ ?"

पर नहीं, मरण का तट छूकर, हो उठा अचिर अर्जुन प्रबुद्ध ;
क्रोधान्ध गरज कर लगा कर्ण के साथ मचाने द्विरथ-युद्ध ।
प्रावृट्-से गरज-गरज दोनों, करते थे प्रतिभट पर प्रहार ,
थी तुला-मध्य सन्तुलित खड़ी, लेकिन दोनों की जीत हार ।

इस ओर कर्ण मार्त्तण्ड-सदृश, उस ओर पार्थ अन्तक-समान ,
रण के मिस, मानो, स्वयं प्रलय, हो उठा समर में मूर्तिमान ।
जूझता एक क्षण छोड़, स्वत:, सारी सेना विस्मय-विमुग्ध ,
अपलक होकर देखने लगी दो शितिकण्ठों का विकट युद्ध ।

है कथा, नयन का लोभ नहीं, संवृत कर सके स्वयं सुरगण ,
भर गया विमानों से तिल-तिल, कुरुभू पर कलकल-नदित-गगन ।
थी रुकी दिशा की साँस, प्रकृति के निखिल रूप तन्मय-गभीर ,
ऊपर स्तम्भित दिनमणि का रथ, नीचे नदियों का अचल नीर ।

(शृंखला - भाग 3)

इतने में शर के कर्ण ने देखा जो अपना निषङग ,
तरकस में से फुङकार उठा, कोई प्रचण्ड विषधर भूजङग ,
कहता कि "कर्ण! मैं अश्वसेन विश्रुत भुजंगो का स्वामी हूँ,
जन्म से पार्थ का शत्रु परम, तेरा बहुविधि हितकामी हूँ ।

"बस, एक बार कर कृपा धनुष पर चढ़ शरव्य तक जाने दे ,
इस महाशत्रु को अभी तुरत स्यन्दन में मुझे सुलाने दे ।
कर वमन गरल जीवन भर का सञ्चित प्रतिशोध उतारूँगा ,
तू मुझे सहारा दे, बढ़कर मैं अभी पार्थ को मारूँगा ।"

राधेय जरा हँसकर बोला, "रे कुटिल! बात क्या कहता है ?
जय का समस्त साधन नर का अपनी बाँहों में रहता है ।
उस पर भी साँपों से मिल कर मैं मनुज, मनुज से युद्ध करूँ ?
जीवन भर जो निष्ठा पाली, उससे आचरण विरुद्ध करूँ ?"

"तेरी सहायता से जय तो मैं अनायास पा जाऊँगा ,
आनेवाली मानवता को, लेकिन, क्या मुख दिखलाऊँगा ?
संसार कहेगा, जीवन का सब सुकृत कर्ण ने क्षार किया ;
प्रतिभट के वध के लिए सर्प का पापी ने साहाय्य लिया ।"

"हे अश्वसेन ! तेरे अनेक वंशज हैं छिपे नरों में भी ,
सीमित वन में ही नहीं, बहुत बसते पुर-ग्राम-घरों में भी ।
ये नर-भुजङग मानवता का पथ कठिन बहुत कर देते हैं ,
प्रतिबल के वध के लिए नीच साहाय्य सर्प का लेते हैं ।"

"ऐसा न हो कि इन साँपो में मेरा भी उज्ज्वल नाम चढ़े ।
पाकर मेरा आदर्श और कुछ नरता का यह पाप बढ़े ।
अर्जुन है मेरा शत्रु, किन्तु वह सर्प नहीं, नर ही तो है ,
संघर्ष सनातन नहीं, शत्रुता इस जीवन भर ही तो है ।"

"अगला जीवन किसलिए भला, तब हो द्वेषान्ध बिगाड़ूँ मैं ?
साँपो की जाकर शरण, सर्प बन क्यों मनुष्य को मारूँ मैं ?
जा भाग, मनुज का सहज शत्रु, मित्रता न मेरी पा सकता ,
मैं किसी हेतु भी यह कलङ्क अपने पर नहीं लगा सकता ।"

काकोदार को कर विदा कर्ण, फिर बढ़ा समर में गर्जमान,
अम्बर अनन्त झङ्कार उठा, हिल उठे निर्जरों के विमान ।
तूफ़ान उठाये चला कर्ण बल से धकेल अरि के दल को,
जैसे प्लावन की धार बहाये चले सामने के जल को।

पाण्डव-सेना भयभीत भागती हुई जिधर भी जाती थी ;
अपने पीछे दौड़ते हुए वह आज कर्ण को पाती थी ।
रह गयी किसी के भी मन में जय की किञ्चित भी नहीं आस ,
आखिर, बोले भगवान् सभी को देख व्याकुल हताश ।

"अर्जुन ! देखो, किस तरह कर्ण सारी सेना पर टूट रहा ,
किस तरह पाण्डवों का पौरुष होकर अशङ्क वह लूट रहा ।
देखो जिस तरफ़, उधर उसके ही बाण दिखायी पड़ते हैं ,
बस, जिधर सुनो, केवल उसके हुङ्कार सुनायी पड़ते हैं ।"

"कैसी करालता ! क्या लाघव ! कितना पौरुष ! कैसा प्रहार !
किस गौरव से यह वीर द्विरद कर रहा समर-वन में विहार !
व्यूहों पर व्यूह फटे जाते, संग्राम उजड़ता जाता है ,
ऐसी तो नहीं कमल वन में भी कुञ्जर धूम मचाता है ।"

"इस पुरुष-सिंह का समर देख मेरे तो हुए निहाल नयन ,
कुछ बुरा न मानो, कहता हूँ , मैं आज एक चिर-गूढ़ वचन ।
कर्ण के साथ तेरा बल भी मैं खूब जानता आया हूँ ,
मन-ही-मन तुझसे बड़ा वीर, पर इसे मानता आया हूँ ।"

"औ' देख चरम वीरता आज तो यही सोचता हूँ मन में ,
है भी कोई, जो जीत सके, इस अतुल धनुर्धर को रण में ?
मैं चक्र सुदर्शन धरूँ और गाण्डीव अगर तू तानेगा ,
तब भी, शायद ही, आज कर्ण आतङ्क हमारा मानेगा ।"

"यह नहीं देह का बल केवल, अन्तर्नभ के भी विवस्वान् ,
हैं किये हुए मिलकर इसको इतना प्रचण्ड जाज्वल्यमान ।
सामान्य पुरुष यह नहीं, वीर यह तपोनिष्ठ व्रतधारी है ;
मृत्तिका-पुञ्ज यह मनुज ज्योतियों के जग का अधिकारी है ।"

"कर रहा काल-सा घोर समर, जय का अनन्त विश्वास लिये ,

है घूम रहा निर्भय, जानें, भीतर क्या दिव्य प्रकाश लिये !
जब भी देखो, तब आँख गड़ी सामने किसी अरिजन पर है ,
भूल ही गया है, एक शीश इसके अपने भी तन पर है ।"

"अर्जुन ! तुम भी अपने समस्त विक्रम-बल का आह्वान करो ,
अर्जित असंख्य विद्याओं का हो सजग हृदय में ध्यान करो ।
जो भी हो तुममें तेज, चरम पर उसे खींच लाना होगा ,
तैयार रहो, कुछ चमत्कार तुमको भी दिखलाना होगा ।"

(शृंखला - भाग 4)

दिनमणि पश्चिम की ओर ढले देखते हुए संग्राम घोर ,
गरजा सहसा राधेय, न जानें, किस प्रचण्ड सुख में विभोर ।
"सामने प्रकट हो प्रलय ! फाड़ तुझको मैं राह बनाऊँगा ,
जाना है तो तेरे भीतर संहार मचाता जाऊँगा ।"

"क्या धमकाता है काल ? अरे, आ जा, मुट्ठी में बन्द करूँ ।
छुट्टी पाऊँ, तुझको समाप्त कर दूँ, निज को स्वच्छन्द करूँ ।
ओ शल्य ! हयों को तेज़ करो, ले चलो उड़ाकर शीघ्र वहाँ ,
गोविन्द-पार्थ के साथ डटे हों चुनकर सारे वीर जहाँ ।"

"हो शास्त्रों का झन-झन-निनाद, दन्तावल हों चिंग्घार रहे ,
रण को कराल घोषित करके हों समरशूर हुङ्कार रहे ,
कटते हों अगणित रुण्ड-मुण्ड, उठता हो आर्त्तनाद क्षण-क्षण ,
झनझना रही हों तलवारें ; उड़ते हों तिग्म विशिख सन-सन ।"

"संहार देह धर खड़ा जहाँ अपनी पैंजनी बजाता हो ,
भीषण गर्जन में जहाँ रोर ताण्डव का डूबा जाता हो ।
ले चलो, जहाँ फट रहा व्योम, मच रहा जहाँ पर घमासान ,
साकार ध्वंस के बीच पैठ छोड़ना मुझे है आज प्राण ।"

समझ में शल्य की कुछ भी न आया ,
हयों को ज़ोर से उसने भगाया ।
निकट भगवान् के रथ आन पहुँचा ,
अगम, अज्ञात का पथ आन पहुँचा ?

अगम की राह, पर, सचमुच, अगम है ,

अनोखा ही नियति का कार्यक्रम है ।
न जानें न्याय भी पहचानती है ,
कुटिलता ही कि केवल जानती है ?

रहा दीपित सदा शुभ धर्म जिसका ,
चमकता सूर्य-सा था कर्म जिसका ,
अबाधित दान का आधार था जो ,
धरित्री का अतुल शृङ्गार था जो ,

क्षुधा जागी उसी की हाय, भू को ,
कहें क्या मेदिनी मानव-प्रसू को ?
रुधिर के पङ्क में रथ को जकड़ कर ,
गयी वह बैठ चक्के को पकड़ कर ।

लगाया जोर अश्वों ने न थोड़ा ,
नहीं लेकिन, मही ने चक्र छोड़ा ।
वृथा साधन हुए जब सारथी के ,
कहा लाचार हो उसने रथी से ।

"बड़ी राधेय ! अद्‌भुत बात है यह ।
किसी दु:शक्ति का ही घात है यह ।
ज़रा-सी कीच में स्यन्दन फँसा है ,
मगर, रथ-चक्र कुछ ऐसा धँसा है ;"

"निकाले से निकलता ही नहीं है ,
हमारा ज़ोर चलता ही नहीं है ,
ज़रा तुम भी इसे झकझोर देखो ,
लगा अपनी भुजा का ज़ोर देखो ।"

हसा राधेय कर कुछ याद मन में ,
कहा, "हाँ सत्य ही, सारे भुवन में ,
विलक्षण बात मेरे ही लिए है ,
नियति का घात मेरे ही लिए है ।

"मगर, है ठीक, किस्मत ही फँसे जब ,
धरा ही कर्ण का स्यन्दन ग्रसे जब ,
सिवा राधेय के पौरुष प्रबल से ,
निकाले कौन उसको बाहुबल से ?"

उछलकर कर्ण स्यन्दन से उतर कर ,
फँसे रथ-चक्र को भुज-बीच भर कर ,

लगा ऊपर उठाने ज़ोर करके ,
कभी सिधा, कभी झकझोर करके ।

मही डोली, सलिल-आगार डोला ,
भुजा के ज़ोर से संसार डोला
न डोला, किन्तु, जो चक्का फँसा था ,
चला वह जा रहा नीचे धँसा था ।

विपद् में कर्ण को यों ग्रस्त पाकर ,
शरासनहीन, अस्त-व्यस्त पाकर ,
जगा कर पार्थ को भगवान् बोले —
"खड़ा है देखता क्या मौन, भोले ?"

(शृंखला - भाग 5)

"शरासन तान, बस अवसर यही है ,
घड़ी फिर और मिलने की नहीं है ।
विशिख कोई गले के पार कर दे ,
अभी ही शत्रु का संहार कर दे ।"

श्रवण कर विश्वगुरु की देशना यह ,
विजय के हेतु आतुर एषणा यह ,
सहम उट्ठा ज़रा कुछ पार्थ का मन ,
विनय में ही, मगर, बोला अकिञ्चन ।

"नरोचित, किन्तु, क्या यह कर्म होगा ?
मलिन इससे नहीं क्या धर्म होगा ?"
हँसे केशव, "वृथा हठ ठानता है ।
अभी तू धर्म को क्या जानता है ?"

"कहूँ जो, पाल उसको, धर्म है यह ।
हनन कर शत्रु का, सत्कर्म है यह ।
क्रिया को छोड़ चिन्तन में फँसेगा ,
उलट कर काल तुझको ही ग्रसेगा ।"

भला क्यों पार्थ कालाहार होता ?
वृथा क्यों चिन्तना का भार ढोता ?

सभी दायित्व हरि पर डाल करके ,
मिली जो शिष्टि उसको पाल करके ,

लगा राधेय को शर मारने वह ,
विपद् में शत्रु को संहारने वह ,
शरों से बेधने तन को, बदन को ,
दिखाने वीरता नि:शस्त्र जन को ।

विशिख सन्धान में अर्जुन निरत था ,
खड़ा राधेय नि:सम्बल, विरथ था ,
खड़े निर्वाक सब जन देखते थे ,
अनोखे धर्म का रण देखते थे ।

नहीं जब पार्थ को देखा सुधरते ,
हृदय में धर्म का टुक ध्यान धरते ।
समय के योग्य धीरज को सँजोकर ,
कहा राधेय ने गम्भीर होकर ।

"नरोचित धर्म से कुछ काम तो लो !
बहुत खेले, ज़रा विश्राम तो लो ।
फँसे रथचक्र को जब तक निकालूँ ,
धनुष धारण करूँ, प्रहरण सँभालूँ ,"

"रुको तब तक, चलाना बाण फिर तुम ;
हरण करना, सको तो, प्राण फिर तुम ।
नहीं अर्जुन ! शरण मैं मागँता हूँ ,
समर्थित धर्म से रण मागँता हूँ ।"

"कलकिंत नाम मत अपना करो तुम ,
हृदय में ध्यान इसका भी धरो तुम ।
विजय तन की घड़ी भर की दमक है ,
इसी संसार तक उसकी चमक है ।"

"भुवन की जीत मिटती है भुवन में ,
उसे क्या खोजना गिर कर पतन में ?
शरण केवल उजागर धर्म होगा ,
सहारा अन्त में सत्कर्म होगा ।"

उपस्थित देख यों न्यायार्थ अरि को ,
निहारा पार्थ ने हो खिन्न हरि को ।
मगर, भगवान् किञ्चित भी न डोले ,

कुपित हो वज्र-सी यह वात बोले —

"प्रलापी ! ओ उजागर धर्म वाले !
बड़ी निष्ठा, बड़े सत्कर्म वाले !
मरा, अन्याय से अभिमन्यु जिस दिन ,
कहाँ पर सो रहा था धर्म उस दिन ?"

"हलाहल भीम को जिस दिन पड़ा था ,
कहाँ पर धर्म यह उस दिन धरा था ?
लगी थी आग जब लाक्षा-भवन में,
हँसा था धर्म ही तब क्या भुवन में ?"

"सभा में द्रौपदी की खींच लाके ,
सुयोधन की उसे दासी बता के ,
सुवामा-जाति को आदर दिया जो ,
बहुत सत्कार तुम सबने किया जो ,"

"नहीं वह और कुछ, सत्कर्म ही था ,
उजागर, शीलभूषित धर्म ही था ।
जुए में हारकर धन-धाम जिस दिन ,
हुए पाणडव यती निष्काम जिस दिन ,"

"चले वनवास को तब धर्म था वह ,
शकुनियों का नहीं अपकर्म था वह ।
अवधि कर पूर्ण जब, लेकिन, फिरे वे ,
असल में, धर्म से ही थे गिरे वे ।"

(शृंखला - भाग 6)

"बड़े पापी हुए जो ताज माँगा ,
किया अन्याय; अपना राज माँगा ।
नहीं धर्मार्थ वे क्यों हारते हैं ,
अधी हैं, शत्रु को क्यों मारते हैं ?"

"हमीं धर्मार्थ क्या दहते रहेंगे ?
सभी कुछ मौन हो सहते रहेंगे ?
कि दगे धर्म को बल अन्य जन भी ?
तजेंगे क्रूरता-छल अन्य जन भी ?"

"न दी क्या यातना इन कौरवों ने ?
किया क्या-क्या न निर्घिन कौरवों ने ?
मगर, तेरे लिए सब धर्म ही था ,
दुहित निज मित्र का, सत्कर्म ही था ।"

"किये का जब उपस्थित फल हुआ है ,
ग्रसित अभिशाप से सम्बल हुआ है ,
चला है खोजने तू धर्म रण में ,
मृषा किल्विष बताने अन्य जन में ।"

"शिथिल कर पार्थ ! किंचित् भी न मन तू ।
न धर्माधर्म में पड़ भीरु बन तू ।
कड़ा कर वक्ष को, शर मार इसको ,
चढ़ा शायक तुरत संहार इसको ।"

हँसा राधेय, "हाँ अब देर भी क्या ?
सुशोभन कर्म में अवसेर भी क्या ?
कृपा कुछ और दिखलाते नहीं क्यों ?
सुदर्शन ही उठाते हैं नहीं क्यों ?"

"कहा जो आपने, सब कुछ सही है ,
मगर, अपनी मुझे चिन्ता नहीं है ?
सुयोधन-हेतु ही पछता रहा हूँ ,
बिना विजयी बनाये जा रहा हूँ ।"

"वृथा है पूछना किसने किया क्या ,
जगत् के धर्म को सम्बल दिया क्या !
सुयोधन था खड़ा कल तक जहाँ पर ,
न हैं क्या आज पाण्डव ही वहाँ पर ?"

"उन्होंने कौन-सा अपधर्म छोड़ा ?
किये से कौन कुत्सित कर्म छोड़ा ?
गिनाऊँ क्या ? स्वयं सब जानते हैं ,
जगद्गुरु आपको हम मानते है ।"

"शिखण्डी को बनाकर ढाल अर्जुन ,
हुआ गांगेय का जो काल अर्जुन ,
नहीं वह और कुछ, सत्कर्म ही था ।
हरे ! कह दीजिये, वह धर्म ही था ।"

"हुआ सात्यकि बली का त्राण जैसे ,
गये भूरिश्रवा के प्राण जैसे ,
नहीं वह कृत्य नरता से रहित था ,
पतन वह पाण्डवों का धर्म-हित था ।"

"कथा अभिमन्यु की तो बोलते हैं ,

नहीं पर, भेद यह क्यों खोलते हैं ?
कुटिल षड्यन्त्र से रण से विरत कर ,
महाभट द्रोण को छल से निहत कर ,"

"पतन पर दूर पाण्डव जा चुके है ,
चतुर्गुण मोल बलि का पा चुके हैं ।
रहा क्या पुण्य अब भी तोलने को ?
उठा मस्तक, गरज कर बोलने को ?"

"वृथा है पूछना, था दोष किसका ?
खुला पहले गरल का कोष किसका ?
जहर अब तो सभी का खुल रहा है ,
हलाहल से हलाहल धुल रहा है ।"

(शृंखला - भाग 7)

"ज़हर की कीच में ही आ गये जब ,
कलुष बन कर कलुष पर छा गये जब ,
दिखाना दोष फिर क्या अन्य जन में ,
अहं से फूलना क्या व्यर्थ मन में ?"

"सुयोधन को मिले जो फल किये का ,
कुटिल परिणाम द्रोहानल पिये का ,
मगर, पाण्डव जहाँ अब चल रहे हैं ,
विकट जिस वासना में जल रहे हैं ,"

"अभी पातक बहुत करवायेगी वह ,
उन्हें जानें कहाँ ले जायेगी वह ।
न जानें, वे इसी विष से जलेंगे ,
कहीं या बर्फ में जाकर गलेंगे ।"

"सुयोधन पूत या अपवित्र ही था ,
प्रतापी वीर मेरा मित्र ही था ।
किया मैंने वही, सत्कर्म था जो ,
निभाया मित्रता का धर्म था जो ।"

"नहीं किञ्चित् मलिन अन्तर्गगन है ,
कनक-सा ही हमारा स्वच्छ मन है ;
अभी भी शुभ्र उर की चेतना है ,
अगर है, तो यही बस, वेदना है ।"

"वधूजन को नहीं रक्षण दिया क्यों ?
समर्थन पाप का उस दिन किया क्यों ?
न कोई योग्य निष्कृति पा रहा हूँ ,
लिये यह दाह मन में जा रहा हूँ ।"

"विजय दिलवाइये केशव! स्वजन को ,
शिथिल, सचमुच, नहीं कर पार्थ! मन को ।
अभय हो बेधता जा अंग अरि का ,
द्विधा क्या, प्राप्त है जब संग हरि का !"

"मही! लै सोंपता हूँ आप रथ मैं ,
गगन में खोजता हूँ अन्य पथ मैं ।
भले ही लील ले इस काठ को तू ,
न पा सकती पुरुष विभ्राट को तू ।"

"महानिर्वाण का क्षण आ रहा है, नया आलोक-स्यन्दन आ रहा है ;
तपस्या से बने हैं यन्त्र जिसके, कसे जप-याग से हैं तन्त्र जिसके ;
जुते हैं कीर्त्तियों के वाजि जिसमें, चमकती है किरण की राजि जिसमें ;
हमारा पुण्य जिसमें झूलता है, विभा के पद्म-सा जो फूलता है ।"

"रचा मैनें जिसे निज पुण्य-बल से, दया से, दान से, निष्ठा अचल से ;
हमारे प्राण-सा ही पूत है जो, हुआ सद्धर्म से उद्भूत है जो ;
न तत्त्वों की तनिक परवाह जिसको, सुगम सर्वत्र ही है राह जिसको ;
गगन में जो अभय हो घूमता है, विभा की ऊर्मियों पर झूमता है ।"

"अहा! आलोक-स्यन्दन आन पहुँचा ,

हमारे पुण्य का क्षण आन पहुँचा ।
विभाओ सूर्य की! जय-गान गाओ ,
मिलाओ, तार किरणों के मिलाओ ।"

"प्रभा-मण्डल! भरो झंकार, बोलो !
जगत् की ज्योतियो! निज द्वार खोलो !
तपस्या रोचिभूषित ला रहा हूँ ,
चढ़ा मै रश्मि-रथ पर आ रहा हूँ ।"

गगन में बद्ध कर दीपित नयन को ,
किये था कर्ण जब सूर्यस्थ मन को ,
लगा शर एक ग्रीवा में सँभल के ,
उड़ी ऊपर प्रभा तन से निकल के !

गिरा मस्तक मही पर छिन्न होकर !
तपस्या-धाम तन से भिन्न होकर।
छिटक कर जो उड़ा आलोक तन से ,
हुआ एकात्म वह मिलकर तपन से !

उठी कौन्तेय की जयकार रण में ,
मचा घनघोर हाहाकार रण में ।
सुयोधन बालकों-सा रो रहा था !
खुशी से भीम पागल हो रहा था !

फिरे आकाश से सुरयान सारे ,
नतानन देवता नभ से सिधारे ।
छिपे आदित्य होकर आर्त्त घन में ,
उदासी छा गयी सारे भुवन में ।

(शृंखला - भाग 8)

युधिष्ठिर प्राप्त कर निस्तार भय से ,
प्रफुल्लित हो, बहुत दुर्लभ विजय से ,
दृगों में मोद के मोती सजाये ,
बड़े ही व्यग्र हरि के पास आये ।

कहा, "केशव! बड़ा था त्रास मुझको ,
नहीं था यह कभी विश्वास मुझको ,

कि अर्जुन यह विपद भी हर सकेगा ,
किसी दिन कर्ण रण में मर सकेगा ।"

"इसी के त्रास में अन्तर पगा था ,
हमें वनवास में भी भय लगा था ।
कभी निश्चिन्त मैं क्या हो सका था ?
न तेरह वर्ष सुख से सो सका था ।"

"बली योद्धा बड़ा विकराल था वह !
हरे! कैसा भयानक काल था वह ?
मुषल विष में बुझे थे, बाण क्या थे !
शिला निर्मोघ ही थी, प्राण क्या थे !"

"मिला कैसे समय निर्भीत है यह ?
हुई सौभाग्य से ही जीत है यह ?
नहीं यदि आज ही वह काल सोता ,
न जानें, क्या समर का हाल होता ?"

उदासी में भरे भगवान् बोले ,
"न भूलें आप केवल जीत को लो ।
नहीं पुरुषार्थ केवल जीत में है ।
विभा का सार शील पुनीत में है ।"

"विजय, क्या जानिये, बसती कहाँ है ?
विभा उसकी अजय हँसती कहाँ है ?
भरी वह जीत के हुङ्कार में है ,
छिपी अथवा लहू की धार में है ?"

"हुआ जानें नहीं, क्या आज रण में ?
मिला किसको विजय का ताज रण में ?
किया क्या प्राप्त? हम सबने दिया क्या ?
चुकाया मोल क्या? सौदा लिया क्या ?"

"समस्या शील की, सचमुच गहन है ।
समझ पाता नहीं कुछ क्लान्त मन है ।
न हो निश्चिन्त कुछ अवधानता है ।
जिसे तजता, उसी को मानता है ।"

"मगर, जो हो, मनुज सुवरिष्ठ था वह ।
धनुर्धर ही नहीं, धर्मिष्ठ था वह ।
तपस्वी, सत्यवादी था, व्रती था ,

बड़ा ब्रह्मण्य था, मन से यती था ।"

"हृदय का निष्कपट, पावन क्रिया का ,
दलित-तारक, समुद्धारक त्रिया का ।
बड़ा बेजोड़ दानी था, सदय था ,
युधिष्ठिर! कर्ण का अद्‌भुत हृदय था ।"

"किया किसका नहीं कल्याण उसने ?
दिये क्या-क्या न छिपकर दान उसने ?
जगत् के हेतु ही सर्वस्व खोकर ,
मरा वह आज रण में नि:स्व होकर ।"

"उगी थी ज्योति जग को तारने को ।
न जनमा था पुरुष वह हारने को ।
मगर, सब कुछ लुटा कर दान के हित ,
सुयश के हेतु, नर-कल्याण के हित ।"

"दया कर शत्रु को भी त्राण देकर ,
खुशी से मित्रता पर प्राण देकर ,
गया है कर्ण भू को दीन करके ,
मनुज-कुल को बहुत बलहीन करके ।"

"युधिष्ठिर! भूलिये, विकराल था वह ,
विपक्षी था, हमारा काल था वह ।
अहा! वह शील में कितना विनत था ?
दया में, धर्म में कैसा निरत था !"

"समझ कर द्रोण मन में भक्ति भरिये ,
पितामह की तरह सम्मान करिये ।
मनुजता का नया नेता उठा है ।
जगत् से ज्योति का जेता उठा है !"